जनसत्ता

परिसर पर हमला

राजधानी दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में रविवार शाम जो हुआ, वह अपने आप में बताने के लिए काफी है कि हर तरफ किस तरह के तत्त्व हावी हो रहे हैं और पुलिस कैसे अराजक तत्त्वों को खुली छूट दे रही है! जिस जेएनयू परिसर में प्रवेश करने तक के लिए किसी बाहरी व्यक्ति को एक औपचारिक पूछताछ और जांच की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है, उसमें पचास से ज्यादा नकाबपोश गुंडे सरियों और डंडे के साथ दाखिल हुए और दो घंटे तक आतंक मचाते रहे। वे लड़कियों के छात्रावासों तक में घुस गए और उन पर जानलेवा हमला किया। उन्हें इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ रहा था कि उनके सामने कोई छात्रा है या छात्र या कोई महिला प्रोफेसर, पूरी बर्बरता से उन्होंने डंडों और सरियों से उन्हें मारा-पीटा। नतीजतन, जेएनयू छात्र संघ की अध्यक्ष का सिर फट गया, एक महिला प्रोफेसर के अलावा लगभग कई विद्यार्थी बुरी तरह घायल हो गए। अफसोसनाक यह है कि इस आपराधिक घटना को रोकने-टोकने के लिए न जेएनयू के सुरक्षा गार्ड सामने आए, न पुलिस को हस्तक्षेप करना जरूरी लगा।

सवाल है कि सरेआम इस तरह की अराजक हिंसा के बरक्स दिल्ली पुलिस के रवैये को किस तरह देखा जाएगा? क्या यह पुलिस की क्षमता की सीमा है या फिर वह किसी पूर्वाग्रह या अघोषित निर्देश पर काम कर रही थी? जो पुलिस हाल में जामिया मिल्लिया परिसर में कथित हिंसा से निपटने का हवाला देकर बिना किसी हिचक के घुस गई थी और व्यापक पैमाने पर छात्र-छात्राओं को बेहरमी से पीटा था, जेएनयू में घुसे नकाबपोश हमलावरों से निपटना उसे क्यों जरूरी नहीं लगा? हालत यह थी कि जेएनयू के मुख्य गेट के बाहर भी मौजूद अराजक लोग हिंसक नारे लगा रहे थे, परिसर के भीतर घायल विद्यार्थियों और शिक्षकों की मदद के लिए जा रही एंबुलेंस पर तोड़फोड़ कर रहे थे, सामाजिक कार्यकर्ताओं से मारपीट कर रहे थे और पुलिस मूकदर्शक खड़ी थी। क्या ऐसे संवेदनशील मौके पर पुलिस की यही भूमिका होती है? इस पूरी अवधि में दिल्ली पुलिस के आयुक्त क्या कर रहे थे? क्या यह समूचा प्रकरण खुद पुलिस आयुक्त की क्षमता पर सवालिया निशान नहीं है?

जेएनयू परिसर में छात्र-छात्राओं पर जानलेवा हमले की जैसी खबरें, ब्योरे और वीडियो सामने आए हैं, वे विचलित करने वाले हैं। ऐसा लगता है कि सब सुनियोजित तरीके से हुआ। जेएनयू छात्र संघ ने सीधा आरोप अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद से जुड़े लोगों और उनके साथ आए गुंडों पर लगाया। प्रति-आरोप भी हैं। लेकिन घटना के दौरान किसी तरह कैद की गई तस्वीरों और वीडियो में जो लोग दिख रहे हैं, उससे बहुत कुछ साफ हो जाता है। दूसरी ओर, पुलिस ने जो मामला दर्ज किया है, उसमें आरोपी 'अज्ञात लोग' हैं! हाल में नागरिकता संशोधन कानून के विरोध में प्रदर्शनों के बाद हिंसा का हवाला देकर पुलिस ने जिन लोगों को गिरफ्तार किया और उन पर मुकदमा दर्ज किया, उसके बरक्स दिल्ली पुलिस के इस रवैये को कैसे देखा जाएगा? पिछले कुछ समय से जेएनयू में चल रही उथल-पुथल और विश्वविद्यालय प्रशासन के रवैये की वजह से पहले ही स्थितियां सहज नहीं थीं! यह ध्यान रखने की जरूरत है कि जेएनयू परिसर में नकाबपोश गुंडों की शक्ल में जिन्होंने छात्र-छात्राओं पर जानलेवा हिंसा की, अगर ऐसी स्थितियों को तुरंत नहीं रोका गया तो दुनिया भर में देश की साख बेहतर बनाने वाले एक प्रतिष्ठित शिक्षा संस्थान के सामने चुनौतियां गहरा सकती हैं। इसके लिए नेताओं को भी किसी को 'सबक सिखाने' जैसी भाषा के इस्तेमाल के बजाय देश में सहज शैक्षणिक गतिविधियां और मानवीय जीवन की स्थितियां बनाने में ऊर्जा लगानी चाहिए।

मौत और राजनीति

राजस्थान में कोटा शहर के सरकारी अस्पताल में बच्चों की मौत का मामला ठंडा भी नहीं पड़ा है कि अब जोधपुर, बीकानेर और उदयपुर से भी दहला देने वाली खबरें आई हैं। पड़ोसी राज्य गुजरात के अमदाबाद और राजकोट के सरकारी अस्पतालों में दो सौ से ज्यादा बच्चों के मारे जाने की खबर और ज्यादा स्तब्ध कर देने वाली है। हैरानी की बात यह है कि इन राज्यों में शिशुओं की मौत की खबरें जिस तरह छन-छन कर बाहर आ रही हैं, उससे यह साफ हो गया है कि राज्य सरकारों को इस बारे में सब कुछ पता था, लेकिन खबरों को बाहर आने से रोका गया। यह कोई नहीं जानता कि दोनों राज्यों के और जिलों में हालात कितने भयावह होंगे, कितने नवजात दम तोड़ चुके होंगे या नहीं बचने की हालत में होंगे। पिछले कई दिनों से सिर्फ कोटा के अस्पताल में बच्चों की मौत की खबर मीडिया में आ रही थी। लेकिन अचानक से अगर यह पता चले कि बीते दिसंबर में जोधपुर के संपूर्णानंद मेडिकल कॉलेज में एक सौ छियालीस, बीकानेर के पीबीएम अस्पताल में एक सौ बासठ और उदयपुर के महाराणा भूपाल अस्पताल में एक सौ उन्नीस बच्चे मारे गए हैं, जिनमें से ज्यादातर नवजात हैं, तो किसके रोंगटे खड़े नहीं होंगे?

बच्चों का इस तरह से दम तोड़ते जाना बता रहा है कि हमारी सरकारें किस कदर निष्ठुर, निकम्मी और लापरवाह हो चुकी हैं। ऐसा लगता है कि पूरा सरकारी तंत्र आंखों पर पट्टी बांध कर बैठ गया है। नागरिकों की जान की कोई कीमत नहीं रह गई है। जोधपुर मुख्यमंत्री का गृह जिला है। ऐसे में यह सवाल उठना स्वाभाविक ही है कि क्या इतने दिनों मुख्यमंत्री को इस बात की भनक भी नहीं लगी कि उनके गृह जिले में सिर्फ महीने भर में एक सौ छियालीस बच्चे मर चुके हैं! आखिर क्यों नहीं सरकार ने संज्ञान लिया? अगर मुख्यमंत्री के अपने शहर में ऐसा हो रहा है और उन्हें मालूम नहीं है तो इससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि सरकार कैसे और क्या काम कर रही है।

देश के सबसे संपन्न राज्य होने का दावा करने वाले 'वाइब्रेंट' गुजरात ने तो राजस्थान को भी पीछे छोड़ दिया। पिछले साल दिसंबर में राजकोट के दीनदयाल उपाध्याय अस्पताल में एक सौ ग्यारह और अमदाबाद के सिविल अस्पताल में अट्ठासी बच्चों की मौत गुजरात के सरकारी अस्पतालों की दयनीय हालत बताने के लिए काफी है। राजकोट के अस्पताल में तो पिछले तीन महीनों से बच्चे मर रहे हैं। अक्तूबर, 2019 में सत्तासी और नवंबर में इकहत्तर बच्चे मर चुके हैं। पर सरकारी तंत्र अपनी नाकामी को छिपाने में कामयाब रहा। विकास के मामले में जिस गुजरात को देश के दूसरे राज्यों के लिए मॉडल के रूप में पेश किया जाता रहा है, वहां बच्चे ऐसे दम तोड़ते रहें और सरकार मामलों को दबाए रहे, यह शर्मनाक है। सबसे ज्यादा अफसोसजनक तो यह है कि गुजरात के उपमुख्यमंत्री ने जहां इसे 'सामान्य' बताने में कोई झिझक महसूस नहीं की, वहीं राजस्थान के मुख्यमंत्री इसे अपनी उपलब्धि बता रहे हैं कि उनके राज में मौतें कम हुई हैं, पिछली सरकार के राज में ज्यादा हुई थीं। हालात बता रहे हैं कि सुविधाओं के अभाव में सरकारी अस्पताल खुद दम तोड़ रहे हैं, बच्चों को क्या बचाएंगे! अगर अस्पतालों में बुनियादी सुविधाएं नहीं हैं, इमारतें जर्जर हैं, दवाइयां-बिस्तर नहीं हैं, तो फिर इन पर खर्च होने वाला पैसा कहां जा रहा है? अगर हम बच्चों को नहीं बचा पाएंगे तो विकास क्या करेंगे? बच्चों की मौतों का बढ़ता आंकड़ा कल्याणकारी सरकारों पर बड़ा सवालिया निशान खड़ा करता है।

कल्पमेधा

विचार का चिराग बुझ जाने से
आचार अंधा हो जाता है।
-विनोबा भावे

रेलवे के कायाकल्प की चुनौती

प्रेमपाल शर्मा

यदि राजनीतिक हस्तक्षेप, मुफ्त यात्रा आदि को हटा लिया जाए तो रेल संगठन आज भी देश के सबसे कुशल संगठनों में गिना जाएगा। इसमें बहुत बड़ा योगदान ब्रिटेन द्वारा स्थापित नियमों, कार्य प्रणालियों का भी है। नकारात्मक बदलाव हुआ है तो राजनीतिक हस्तक्षेप की वजह से। जहां स्टेशन देने की जरूरत नहीं है, वहां राजनीतिक दबाव से देना पड़े, जहां रियायत देने की जरूरत न हो वहां भी देना पड़े तो उसके अंजाम ऐसे होंगे ही।

भारतीय रेल सचमुच में ऐतिहासिक परिवर्तन की ओर अग्रसर है। रेल मंत्री ने जो तस्वीर पेश की है, उसके अनुसार रेलवे की आठ सेवाओं की बजाय रेल प्रबंधन सेवा नाम का केवल एक कैडर होगा। रेल मंत्री ने इसकी आवश्यकता इसलिए बताई कि आठ विभाग होने की वजह से कई बार उनमें आपस में प्रतिस्पर्धा और गुटबाजी चलती रहती है, इससे निर्णय लेने में देरी होती है। एकीकृत सेवा से यह सब खत्म हो जाएगा। दूसरा महत्त्वपूर्ण निर्णय मौजूदा नौ सदस्यों के बोर्ड की बजाय पांच सदस्यों का बोर्ड रहेगा। अभी तक हर सदस्य अपनी तकनीकी योग्यता से जाना जाता था, जैसे- सदस्य इंजीनियरिंग, सदस्य यातायात, सदस्य सिगनलिंग। इसकी बजाय अब चेयरमैन सहित पांच सदस्य होंगे। एक आधारभूत ढांचा जैसे ट्रक सिग्नल टेलीकम्युनिकेशन को देखेगा यानी सदस्य (इंफ्रास्ट्रक्चर)। दूसरा सदस्य (परिचालन) और बिजनेस, तीसरा वित्त और चौथा रेल इंजन, डिब्बे, पहिया आदि। शीर्ष पर इन सुधारों के साथ-साथ कुछ और भी सुधार होंगे, जैसे- महाप्रबंधक को प्रोन्नत किया जाएगा सचिव के पद पर। रेल की बढ़ती जिम्मेदारी और अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए बदलते वक्त के साथ किसी भी विचार का स्वागत किया जाना चाहिए। इस पर तुरंत कोई निर्णय या फतवा देना जल्दबाजी होगी। वैज्ञानिक सोच तो यही कहती है कि यदि चीजें सुधारने में न आ रही हों तो कोई और रास्ता निकाला जाए। उस रास्ते को आप प्रयोग भी कह सकते हैं।

अच्छी बात है कि रेलवे संगठन में पिछले बीस वर्षों से कई बार ऐसे विकल्पों पर विचार किया गया है और फिलहाल का निर्णय उन्हीं विकल्पों में से कुछ-कुछ सूत्र लेकर घोषित हुआ है। इस समय घोषित होने का कारण यह भी हो सकता है कि पिछले वर्ष रेलवे की कमाई और लागत का अनुपात (ऑपरेटिंग रेशो) और बिगड़ा है। अनठानवे रुपए खर्च करके सौ रुपए कमाए जा रहे हैं। पिछले बजट में भविष्य के लिए जो घोषणाएं की गई हैं, उनको पूरा करने के लिए अगले बारह साल में पचास लाख करोड़ रुपए चाहिए। पटरियों को सुधारना है, सिगनल प्रणाली को आधुनिक बनाना है, ज्यादातर मार्गों पर गाड़ियों की रफ्तार बढ़ानी है, कश्मीर और पूर्वोत्तर में विस्तार करना है आदि।

इससे पहले वर्ष 1994 में प्रकाश टंडन कमेटी ने भी कुछ ऐसे ही सुझाव दिए थे, जिसके अनुसार रेल सेवाओं को टेक्निकल (तकनीकी) और नॉन-टेक्निकल (गैर-तकनीकी) नाम से केवल दो समूहों में रखा जाए। उसके बाद सन 2000 में राकेश मोहन कमेटी ने भी विभागों की आपसी लड़ाई को रेलवे की कार्यकुशलता में बाधक माना था। उन्होंने भी टंडन कमेटी के सुझावों को और आगे बढ़ाते हुए कहा था कि डीआरएम लेवल तक विभाग अलग रहे, उसके बाद उन सबको जनरल मैनेजमेंट में शामिल किया जाए। विवेक देवराय और सैम पित्रोदा समितियों ने भी अकाउंटिंग प्रोसीजर, जनरल मैनेजर को और शक्ति देने के साथ-साथ सुरक्षा और भर्ती के बारे में बहुत सारे सुझाव दिए थे।

पहले इसके कुछ खतरों या चुनौतियों की बात करते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि संघ लोक सेवा आयोग (यूपीएससी) से चुने हुए सर्वश्रेष्ठ मेधावी नौजवान भारतीय रेल में आते हैं। इनमें यातायात, कार्मिक, लेखा सेवाओं में सिविल सेवा परीक्षा से और तकनीकी यानी सिविल, सिग्नल, मैकेनिकल और इलेक्ट्रिकल इंजीनियर इंजीनियरिंग सेवा परीक्षा से आते हैं। दोनों में ही पिछले कुछ वर्षों से लगभग पचास फीसद आइआइटी से निकले हुए छात्र होते हैं। कोई अंतर नहीं होता इनकी मेधा, कार्यक्षमता और भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों में। रेलवे एक तकनीकी विभाग है, इसलिए किसी को भी शीर्ष पर बाहर से बिठाने से और नुकसान हो सकता है।

बड़ा प्रश्न यह है कि यदि एक प्रबंधन सेवा होगी तो उसकी भर्ती प्रक्रिया क्या होगी? रेल में तकनीकी और गैर तकनीकी दोनों ही अधिकारियों की जरूरत है और यह सिर्फ एक परीक्षा से संभव नहीं है। अच्छा हो कि फिलहाल भर्ती की प्रक्रिया संघ लोक सेवा आयोग के तहत कुछ वर्षों तक ज्यों की त्यों रखी जाए, रेलवे में सेवा के पांच वर्षों के बाद पर्याप्त प्रशिक्षण से एक कैडर हो। यह सरकार की मौजूदा सोच से भी मेल खाता है कि आपकी अभिरुचि या सामर्थ्य दक्षता क्या है, उसके आधार पर कैडर या मैनेजमेंट सेवा में उन्हें उचित पद दिए जाएं। लेकिन इसके बजाय अगले ही वर्ष प्रबंधन सेवा के नाम से भर्ती की जल्दबाजी, उसकी परीक्षा का प्रारूप बनाना आदि से चीजें और बिगड़ सकती हैं। उम्मीद है कि सचिवों की समिति और मंत्री समूह इस बात को ध्यान में रखेंगे। कार्मिक मंत्रालय और संघ लोक सेवा आयोग के लिए भी मुश्किलें नहीं आएंगी। इस बीच में दुनिया के अनुभवों से सीखते हुए भर्ती प्रक्रिया के और विकल्पों पर विचार जारी रह सकता है।

बोर्ड का पुनर्गठन भी एक नई चुनौती पैदा करेगा, क्योंकि अभी तक तो वे अपनी-अपनी सेवाओं की वरिष्ठता के हिसाब से शीर्ष पर सीधे पहुंच जाते थे। उसका भी एक बुरा पहलू यह है कि आपकी कार्यक्षमता से ज्यादा से महत्त्वपूर्ण है आपकी जन्मतिथि। आधुनिक प्रबंधन में भारतीय रेल के लिए यह बहुत घातक साबित हो रहा है। अपनी कम उम्र की तड़ी में कुछ तो सेवा शुरू होने के वक्त ही बोर्ड के सदस्य के नशे में रहने लगते हैं बिना अपनी क्षमताओं को बढ़ाए। यूरोप के देशों में या दुनिया के तेजी से बढ़ते संगठनों में उम्र और वरिष्ठता इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि आपका योगदान और संगठन को आगे बढ़ाने की क्षमता। विभागीय खींचतान और अपने-अपने खांचे-सांचे में आत्मकेंद्रित रहने या गिरोह बनाने की जहां तक बात है, इसमें जरूर कुछ सच्चाई है। लेकिन समाज के किस स्तर पर ऐसा नहीं है? रेलवे की गंभीर दुर्घटनाओं के बाद ये विभागीय आरोप बार-बार साबित हुए हैं। इसकी बुनियाद तो दरअसल राजनीतिक सत्ता में है जो इसी के बूते पर शासन कर रही है। रेलवे अधिकारियों को पूरा दोष देना सही नहीं होगा।

कुछ और पक्षों पर विचार करने से पहले यदि दिल्ली मेट्रो जैसे विकल्प की तरफ बढ़ा जाए तो अच्छा रहे। दिल्ली मेट्रो ने परिवहन व्यवस्था में पूरे भारत के द्वार खोले हैं। उसके संगठन, कार्य-संस्कृति, अनुशासन, नई सोच, बदलाव के निर्णय से सीख लेने की जरूरत है। वह पूरी तरह सरकारी नहीं है, लेकिन सरकार के अधीन भी है, किसी निजी कंपनी की मनमानी नहीं है। उसमें भारत सरकार, शहरी विकास मंत्रालय, दिल्ली सरकार और जापानी सरकार का भी कुछ हस्तक्षेप और नियंत्रण है। बुनियादी फर्क यह है कि उसमें राजनीतिकों का हर पल गैरजरूरी हस्तक्षेप कम से कम है। रेलवे की यूनियन, संगठन का रेलवे के लिए योगदान कम नहीं है, लेकिन अनुशासन हीनता के लिए भी ये उतने ही जिम्मेदार हैं। कायाकल्प की जरूरत तो रेल यूनियन और संगठनों को भी है। यदि राजनीतिक हस्तक्षेप, मुफ्त यात्रा आदि को हटा लिया जाए तो रेल संगठन आज भी देश के सबसे कुशल संगठनों में गिना जाएगा। इसमें बहुत बड़ा योगदान ब्रिटेन द्वारा स्थापित नियमों, कार्य प्रणालियों का भी है। नकारात्मक बदलाव हुआ है तो राजनीतिक हस्तक्षेप की वजह से। जहां स्टेशन देने की जरूरत नहीं है, वहां राजनीतिक दबाव से देना पड़े, जहां रियायत देने की जरूरत न हो वहां भी देना पड़े तो उसके अंजाम ऐसे होंगे ही।

भारतीय रेल देश की धमनी के रूप में जानी जाती है, उसे और स्वस्थ और कुशल बनाने की जरूरत है। इतने विशाल देश का परिवहन एक मजबूत रेल नेटवर्क से ही संभव है। इक्कीसवीं सदी और समाज की आकांक्षाओं के अनुरूप इसे बदलना ही होगा। पचास के दशक की समाजवादी नीतियां, अधिकारियों की फिजूलखर्ची, सामंतवादी सोच, लालफीताशाही से यह नहीं सुधर सकती। और न कॉरपोरेट पूंजी के सिर्फ मुनाफा कमाने के औजार के रूप में इसे बर्बाद करने की इजाजत दी जा सकती है।

जड़ता का समाज

अनीता यादव

दुनिया मेरे आगे

कुछ वक्त पहले एक मित्र के घर जाना हुआ। हाल ही उनके घर में लड़की का जन्म हुआ था। नवजात बच्ची की प्यारी-सी मुस्कान व्यक्ति के जन्मों का दर्द हर लेने को काफी थी। छोटी-छोटी आंखों से अभी वह दुनिया को ढंग से देख भी नहीं पा रही थी। फिर जीवन में सपनों का बुनना तो अभी दूर था। इसी के समकक्ष बच्ची के आसपास कुछ ऐसा भी था जो डरा और सहमा था। बच्ची की मां का चिंता से भरा चेहरा और पिता के माथे पर पड़े बल माहौल को गंभीर करने को काफी थे। एकबारगी मुझे लगा कि समाज में लड़की का जन्म बोझ स्वरूप माना जाता है, उसी का प्रभाव इस माता-पिता के चेहरे पर चस्पां है। लेकिन जिक्र करने पर पता चला कि मामला लड़की के पैदा होने का नहीं, बल्कि उसकी सुरक्षा का है। फिर मित्र ने जो कुछ मुझे बताया, उसका लब्बोलुआब था कि उनके पति ने चेतावनी भरे शब्दों में कहा था कि बच्ची को लेकर कोताही नहीं बरतनी है। चाहे आस-पड़ोस हो या घर-परिवार या फिर नाते-रिश्तेदार, किसी भी पुरुष के पास बिटिया को अकेले नहीं छोड़ना है। इसे हम नवजात कन्या शिशु के पिता की चिंता मात्र नहीं कह सकते, बल्कि विशृंखल और विद्रूप होते संबंधों को यह एक वैधानिक चेतावनी भी है। साथ ही हमारे कुरूप होते समाज का प्रतिबिंब भी आसानी से देख सकते हैं।

आदिम विकास के शुरुआती चरणों में समाज या राज्य हमारी सुरक्षा के रूप में जन्मा था, जिसके बदले आम नागरिक को राज्य द्वारा निर्मित नियम-कायदे और कानून का पालन करना अनिवार्य भी था। बदले में व्यक्ति की सुरक्षा समेत उसके चहुंमुखी विकास की अनुकूल परिस्थितियां मुहैया कराना राज्य का कर्तव्य था। यानी सुरक्षा का नैतिक दायित्व समाज और राज्य के कंधों पर शुरुआती दौर से ही रहा है। आज हम सामाजिक, आर्थिक विकास से लेकर तकनीकी विकास के उच्चतम पायदान चढ़ चुके। लेकिन सामाजिक और पारिवारिक संबंधों के मामले में हम सबसे निम्नतम पायदान पर आ चुके।

आज हम जिस दौर में पहुंच चुके हैं, वह आत्मिक और मानवीय संबंधों की दृष्टि से बेहद संवेदनहीन है। कंप्यूटर से स्मार्टफोन की यात्रा तक हमने आखिर क्या हासिल नहीं किया? घर बैठे एक क्लिक पर खरीदारी से लेकर शेयर बाजार तक, रोजमर्रा के सामान से लेकर यात्रा टिकट, टैक्सी- सब हमारी उंगली के नीचे समा गए हैं। इसके बावजूद हम महिलाओं की सुरक्षा का दायित्व तक ढंग से नहीं संभाल पा रहे। महिलाओं की सुरक्षा के मुद्दे पर हमारे जन प्रतिनिधि चुनाव लड़ते हैं। जीतते भी हैं, लेकिन चुनावी वादे खोखले साबित होते हैं। कहा गया है कि किसी समाज की असली तस्वीर जाननी है तो उस समाज में महिलाओं की स्थिति देखनी चाहिए। यानी समाज में महिलाओं की अच्छी और खराब स्थिति समाज की उत्कृष्ट और अवनति।

आज हम जिस दौर में जी रहे हैं, उसमें सबसे बड़ा मुद्दा महिलाओं की सुरक्षा को लेकर है। एसिड अटैक या तेजाबी हमले से लेकर अपहरण, सामूहिक बलात्कार, यौन शोषण सरीखे जघन्य अपराध कम होने के बजाय बढ़ते जा रहे हैं। ये अपराध महिलाओं के न केवल आत्मसम्मान को तार-तार करते हैं, बल्कि तन, मन को क्षत-विक्षत कर समाज में सम्मानजनक जीवन से भी महरूम कर देते हैं। ऐसी कुत्सित मानसिकता की शिकार छह महीने की बच्ची से लेकर नब्बे साल की बुजुर्ग तक हैं। हम न केवल उनकी सुरक्षा में नाकाम हैं, बल्कि न्याय प्रणाली की लंबी और जटिल प्रक्रिया भी इसकी जिम्मेदार है। घटना के सालों बाद भी अपराधी को सजा नहीं मिल पाती। यह कहने में गुरेज नहीं कि न्याय व्यवस्था की कमजोरी ही हर रोज नए अपराधियों को पैदा होने के लिए कहीं न कहीं मानसिक आधार मुहैया करा रही है। समाज में महिलाओं की सुरक्षा का दायित्व शासन-प्रशासन पर है। इससे मुंह नहीं मोड़ा जा सकता। न केवल अपराधों पर लगाम, बल्कि जो घटनाएं हो चुकीं, उनमें पीड़ित को शीघ्र न्याय दिलाने का नैतिक दायित्व भी हमारी प्रशासनिक और न्यायिक व्यवस्था के जिम्मे है।

सिमोन कहती हैं कि लड़कियां पैदा नहीं होती बनाई जाती हैं। वैसे ही अपराधी भी पैदा नहीं होते, बल्कि बनाए जाते हैं। बनने की इस प्रक्रिया को हमें रोकना होगा। घरों में लड़कों की परवरिश की तरफ ध्यान देना होगा, जिसमें मां और परिवार की भूमिका सर्वाधिक है। स्त्रियों के प्रति संवेदनशीलता, स्नेह और सम्मान जैसे भाव लड़कों में शिशुपन से ही परवरिश के दौरान भरने होंगे। आज भी समाज में खान-पान को लेकर लड़का और लड़की में भेदभाव किया जाता है। इसलिए आज बहुत जरूरी है कि परिवार से लेकर सामाजिक संस्थाओं, राजनीतिक जननायकों और न्यायिक व्यवस्था से जुड़े लोगों को महिलाओं के प्रति न केवल लिंग आधारित भेदभाव, सुरक्षा खामियों को दूर करने, न्यायिक व्यवस्था को दुरुस्त करने, बल्कि उन्हें समाज में सहज रूप से जीवनयापन की अनुकूल स्थितियां उपलब्ध कराने की जिम्मेदारियों को सहर्ष उठाना होगा। अब इन विषयों पर न केवल विचार करना, बल्कि क्रियात्मक होना होगा। महिलाओं के प्रति समाज की संवेदनशीलता ही सही रूप में किसी समाज के विकास की साधक होगी।

स्वनिर्मित गैस चैंबर

बहुत जल्दी थी तो अब सुकून की तलाश क्यों? विकास की अंधी दौड़ ने, जीने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व हवा को ही ताक पर रख दिया है। वृक्षों को काट कर सड़कें चौड़ी हो रही हैं, कंक्रीट के जंगल उगाए जा रहे हैं, उद्योगों को स्थापित किया जा रहा है। इस सबके बीच दिल्ली की हालत हिटलर के गैस चैंबर की याद दिला रही है अंतर बस इतना है कि यह चैंबर हम अपने लिए खुद तैयार कर रहे हैं। वायु गुणवत्ता सूचकांक के आंकड़ों का सैकड़े में जाना खतरनाक स्थिति माना जाता है लेकिन अब तो तकरीबन हर साल राजधानी दिल्ली में वायु गुणवत्ता सूचकांक चार सौ से पांच सौ अंकों तक अक्सर पहुंच जाता है।

किसी पदार्थ को जला कर नष्ट करना सबसे आसान तरीका है। इसी कारण रोक के बावजूद हर साल बड़े पैमाने पर पराली को जलाया जा रहा है। वैसे केवल पराली इसके लिए जिम्मेदार नहीं है। दिल्ली की सड़कों पर दौड़ रहे अस्सी लाख दोपहिया और करीब छत्तीस लाख चौपहिया वाहन भी इसके लिए जिम्मेदार हैं। सार्वजनिक परिवहन सुलभ होने के बावजूद कार से यात्रा करना अपनी सामाजिक हैसियत को दर्शाने का माध्यम होने के कारण वायु प्रदूषण का प्रमुख कारण बन रहा है। दिल्ली वाले दिवाली पर पटाखों का इस्तेमाल कम करेंगे तो भी वहां की जनसंख्या इतनी अधिक है कि पटाखों की मात्रा बहुत ज्यादा हो जाती है। बाकी कसर दिल्ली के उद्योग, वातानुकूलन के साधन और प्रशीतक पूरी कर दे रहे हैं।

वायु प्रदूषण न केवल उस क्षेत्र में निवास करने वाली जनसंख्या और जीव-जंतुओं, बल्कि अजन्मे बच्चों को भी अपनी जद में ले रहा है। बेल्जियम में हुए एक शोध में पाया गया कि मां के सांस के साथ भीतर गए ब्लैक कार्बन के कण उनके अजन्मे बच्चों के शरीर में भी पहुंच रहे हैं। स्टेट ऑफ ग्लोबल एयर -2019 के अध्ययन के अनुसार भारत में 12.4 लाख लोग हर वर्ष इसका शिकार बन जाते हैं। आखिर हवा में कब तक जहर घोलते रहेंगे हम?

● *भावेश प्रताप सिंह, इलाहाबाद विश्वविद्यालय*

हठ से इतर

पिछले दिनों अमेरिकी सेना ने इराक के अंतरराष्ट्रीय हवाई अड्डे पर हमला किया जिसमें ईरान के शीर्ष कमांडर कासिम सुलेमानी और उनके कई अहम सहयोगियों की मृत्यु हो गई। दरअसल, अमेरिका और ईरान के बीच कई मुद्दों पर टकराव है जिसके चलते दोनों के संबंध दिनोंदिन खराब होते जा रहे हैं। 2015 में हुए परमाणु समझौते से अमेरिका का खुद को अलग करना, ईरान पर व्यापारिक प्रतिबंध लगाना और उसके सैन्य अड्डों की ड्रोन द्वारा जासूसी कराना- यह सब अमेरिका के हठ को दर्शाता है।

इस सबके बीच भारतीय विदेश मंत्रालय ने दोनों देशों से संयम बरतने की अपील की है। यदि अमेरिका और ईरान के बीच युद्ध हुआ तो उसका असर संपूर्ण अंतरराष्ट्रीय बिरादरी पर होगा। विशेषज्ञों की मानें तो इस युद्ध से विश्व में कच्चा तेल महंगा होने की आशंका है। लिहाजा, अमेरिका और ईरान के मध्य वैमनस्य को समाप्त करने के लिए अंतरराष्ट्रीय समुदाय को आगे आना चाहिए और दोनों देशों को भी अपने हठ से इतर वार्ताओं के लिए दरवाजे खोलने चाहिए।

● *मोहम्मद शायान, कैराना, उत्तर प्रदेश*

जानलेवा लापरवाही

राजस्थान में कोटा के अस्पताल में सौ से अधिक बच्चों की मौत की खबर से मन सिहर उठा। आखिर सरकारी व्यवस्था की लापरवाही सैकड़ों बच्चों को लील गई। हद तो तब हो गई जब राज्य सरकार ने जवाबदेही तक तय नहीं की। और तो और, पक्ष-विपक्ष राजनीति करने तथा एक-दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाने में लग गए। क्या बच्चों की मौत पर राजनीति करना उचित है? अच्छा होता, वे दुखी परिवारों के बीच जाकर उन्हें ढांढस बंधाते।

● *पूनम चंद सीरवी, कुक्षी, मध्यप्रदेश*

इंसाफ की राह

चार जनवरी को एक उन्मादी ननकाना साहब (पाकिस्तान) पर भीड़ लेकर हमला करता है, वहां से सिखों को खदेड़ने का आह्वान करता है, ननकाना साहब का नाम बदल कर गुलाम-ए-मुस्तफा करने की धमकी देता है, और कहता है कि वहां के ग्रंथी की पुत्री, जिसे उसके भाई ने चार महीने पहले अगवा कर मुसलिम बना दिया था, कभी वापस नहीं दी जाएगी। उसने ऐलान किया कि 'उसका निकाह रद्द नहीं हो सकता'। इसके अगले ही दिन किसी राजनीतिक की तरह पलटी मारते हुए वह कहता है कि सिख तो उसके भाई हैं, उनसे कोई दुश्मनी नहीं हो सकती! अपनी शब्दावली में वह माफी भी मांग लेता है। अलबत्ता लड़की अब भी नहीं लौटाई जाएगी। वह तो 'स्वेच्छा से' मुसलिम बनकर उसके भाई की बेगम बन चुकी!

पाकिस्तान में यह स्वेच्छा से इस्लाम स्वीकारने वाली गैर-मुसलिम लड़कियों की न सिर्फ संख्या बढ़ रही है, बल्कि उनकी वापसी की राह बंद होने का सिलसिला भी बरकरार है। वहां न्यायपालिका से भी इन लड़कियों और उनके माता-पिताओं को न्याय नहीं मिलता। 2014-15 में सिंध की तीन नाबालिग हिंदू बहनों- लता कुमारी, रिंकल कुमारी और आशा कुमारी, जिनका जबरिया धर्मांतरण कर निकाह कर दिया गया था, का मामला लेकर मानवाधिकार कार्यकर्ता व सांसद दिवंगत अस्मा जहांगीर सुप्रीम कोर्ट पहुंची थीं। वहां खुद मुख्य न्यायाधीश मोहम्मद इफ्तखारुद्दीन ने इंसाफ का विद्रूप नाटक कर तीनों को उनके अपहर्ताओं को ही सौंप दिया था। न तो उन्हें अपने माता-पिता से मिलने दिया गया, न बात करने दी गई।

इतना ही नहीं, बुरका-बंद बहनों की पहचान भी उजागर नहीं होने दी गई। अस्मा ने कहा था कि ये इंसाफ अन्याय से भी बदतर है! तीनों के माता-पिता दहाड़ मार कर रोते-पीटते कोर्ट से लौटे। ऐसे लोग भारत में पनाह नहीं मांगेंगे तो और क्या करेंगे! लेकिन क्या उनके अपहर्ताओं-उत्पीड़कों को भारत अपने यहां बुलाएगा, बसाएगा? नागरिकता संशोधन कानून (सीएए) की आवश्यकता को इन घटनाओं से समझने की कोशिश की जानी चाहिए।

● *पूनम मित्तल, मेरठ*

चौपाल

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

नई दिल्ली

www.readwhere.com